17

परिवार का आर्थिक विघटन

मेरे जन्मदाता पिता श्री शीतलप्रसादजी जिनके एक परिवार को संकट में डालनेवाले व्यापार की चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ, अत्यंत सीधे और सात्विक प्रकृति के पुरुष थे। वे अपने नाम को सही रूप में चरितार्थ करते थे। मैंने बचपन से मृत्यु तक कभी उन्हें रोष करते नहीं देखा। उनकी मृत्यु जून 1962 में गंगा-दशहरा के दिन पटना के अस्पताल में हुई थी। उस समय तक मेरी अवस्था 38 वर्ष की हो चुकी थी और मुझे उनकी सेवा करने का यथेष्ट अवसर मिल सका था। वे नित्य गीता का पाठ करते थे। असत्य-भाषण के डर से कभी उन्होंने कचहरी में जाकर बयान नहीं दिया। विवाह के बाद, पत्नी की प्रेरणा से अंग्रेजी सीखकर वे उस भाषा में काफी योग्यता प्राप्त कर चुके थे। हिंदी और संस्कृत भी उन्होंने विवाह के बाद ही भली भाँति पढ़ी थी। परंतु परिवार के धार्मिक वातावरण के कारण गीता, चाणक्यनीति और शंकराचार्य की चर्पट-पंजरिका का उन्हें अच्छा बोध था और उनके श्लोकों को वे मुझे सुनाया भी करते थे। गीता का दशम अध्याय तो उन्होंने बचपन में मुझे कंठस्थ कराने का भी प्रयत्न किया था।

अपने पिता के इस अत्यंत शीतल स्वभाव के कारण और माँ के अभाव में भी, ताऊ गयाप्रसादजी, गोद लेनेवाली माता मुहरी देवी, मैयाजी और उनके भाई हरिवक्सजी जिन्हें मैं मामाजी कहता था, के लाड़-प्यार के कारण मैं प्रारंभ से ही जिद्दी और अपने मन-की-सी करनेवाला बन गया था। मुझ पर स्वयं अपने को छोड़कर किसी दूसरे का अनुशासन नहीं था। विशेषकर, पढ़ाई-लिखाई के मामले में तो कोई मार्गदर्शक भी नहीं था क्योंकि सारे परिवार में व्यापारिक और रईसी वातावरण था। मुझे पढ़कर नौकरी पाने और परिवार के पालन की चिंता भी नहीं थी। व्यापारिक समृद्धि के रुपयों से हमारे परिवार में 10-12 जमींदारी के गाँव भी आ गये थे और उद्योगशीलता के साथ-साथ जमींदारी ठाठबाट और अकर्मण्यता ने भी घर में डेरा डाल दिया था। उन दिनों गया में सरकारी बैंक के अलावा कोई और बैक नहीं था इसलिए बड़े-बड़े जमींदारों के रुपये नाम मात्र

के ब्याज पर और किसी-किसीके बिना ब्याज के ही, हमारे यहाँ जमा रहते थे। दुकान में रुपयों की थैलियों के बोरे भरे रहते क्योंकि उन दिनों एक रुपये के नगदी रुपयों का बाहुल्य रहता था। बचपन में मैं रुपयों की थैलियों पर कूद-कूद कर खेलता था। जो आधे दर्जन कर्मचारी 20-20 रुपयों की थाक लगा-लगा कर गिनती करते रहते थे, उनके पास पड़े रुपयों के ढेर पर कूद कर मैं उनकी घंटों की मेहनत से तैयार की गयी रुपयों की थाक बिगाड़ देता था। बहुत ऊधम करने पर मुझे नौकर की गोद में देकर बरबस ऊपर भिजवाया जाता था। व्यापार के हिसाब से हमारे परिवार में कपड़े की तीन बड़ी दुकानें, गया-नवादा, गया-बिहार और गया-रामगढ़ के मार्ग पर चलनेवाली तीन बस लाइनें, गया स्टेशन पर बर्मासेल के किरासन तेल का डीपो, मोटर के पुर्जों की एवं टायर-ट्यूबों की बड़ी दुकान, पेट्रोल पंप, तथा अन्य छोटे-मोटे कामों के अलावा गया एलेक्ट्रिक सप्लाई कंपनी की मैनेजिंग एजेंसी का काम था जिसका दफ्तर भी हमारे भवन के एक तल्ले पर ही अवस्थित था। इस प्रकार, गया नगर में बिजली देनेवाली एलेक्ट्रिक सप्लाई कंपनी के दो दर्जन से अधिक आफिस कर्मचारी, मोटर के ड्राइवर, खलासी, कंडक्टर, कपड़ादुकान के सैल्समैन और मुनीम तथा जमींदारी के कार्य को निरीक्षण करनेवाले मैनेजर, गुमाश्ते आदि, कुल मिला कर विशाल भवन के पहले तल्ले पर नौकरों की और मुझे हाथोंहाथ उठा लेनेवालों की भीड़ लगी रहती थी। उस पर तुर्रा यह कि कोई डाँट-फटकार करनेवाला भी नहीं, क्योंकि रायसाहब के दत्तक पुत्र के नाते उनकी मृत्यु के बाद मैं ही अपनी शाखा का मुखिया था और जैसा कि मैंने लिखा है, मेरे जन्मदाता पिता शीतलप्रसादजी के शीतल स्वभाव के कारण किसी भी प्रकार के अनुशासन से मुक्त भी था। भविष्य की भी कोई चिंता नहीं थी। इस प्रकार कविता के व्यसन की तो सुंदर और उपजाऊ भूमि एक प्रकार से विधाता ने इकट्ठी कर ही दी थी।

परंतु ऊपर मैंने जिस संपन्नता का वर्णन किया है, वह दीपक के बुझते समय दिखाई देनेवाले प्रकाश की झलक भर थी। हमारे परिवार के विकास का उच्चतम शिखर रायसाहब की मृत्यु के साथ तिरोहित हो चुका था। 1932 में उनके अवसान के बाद धीरे-धीरे, एक-एककर सारे व्यापार को समाप्त होते जाना था। जो मान, प्रतिष्ठा, व्यापारिक उत्कर्ष या वैभव था, रायसाहब के कारण ही था। भगवान ने कहा है—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते

इसका अर्थ यह भी है कि जिस घर में योगभ्रष्ट व्यक्ति का जन्म होता है वह श्री से संपन्न तो हो ही जाता है परंतु यह भी सच है कि वह सारी शोभा-श्री उनके साथ ही चली भी जाती है। घर में सब लोगों के मुँह से अपने होश सँभालने के बाद से मैं सुनता भी आता था 'रती तो रायसाहब के साथ चली गयी।' पहले तो पेट्रोल और टायरों की दुकान में आग लग गयी जिससे 60-70 हजार के टायर-ट्यूब जलकर राख हो गये और पेट्रोल टंकी का व्यवसाय भी टायरों के व्यवसाय के साथ समाप्त हो गया। फिर बर्मासेल के डिपो की एजेंसी समाप्त हो गयी क्योंकि उसके प्रतिनिधि अंग्रेज उच्चाधिकारी के आने पर अभ्यर्थना ठीक से नहीं की गयी। सब से बड़ा आघात 1941 में गया इलेक्ट्रिक सप्लाई की मैंनेजिंग एजेंसी का समाप्त हो जाना था। एलेक्ट्रिक सप्लाई के हाथ से निकल जाने पर और उसका दफ्तर भी हमारे मकान से चले जाने से नगर में हमारी मान-प्रतिष्ठा को तो आघात लगा ही, इतने कर्मचारियों के न रहने के कारण भवन में शून्यता-सी भी आ गयी। इसके बाद दूसरा आघात यह लगा कि जमींदारों के जो रुपये हमारे यहाँ जमा रहते थे उन्हें वे निकालने लगे। हमारे परिवार में तीन भाइयों के अलावा एक चचेरे भाई देवीलालजी भी थे। जिन्हें भी बाद में रायसाहब की उपाधि प्राप्त हुई थी। उनकी कार्यकुशलता, तीक्ष्णबुद्धि और वाक्पटुता अद्भुत थी। देवीलालजी के पिता भजनलालजी और मेरे दादा भैरोंलालजी सगे भाई थे परंतु भजनलालजी की मृत्यु कम उम्र में हो गयी थी और अबोध देवीलाल को मुझे गोद लेनेवाले रायसाहब ने ही पाला था। अतः रायसाहब के जीवन काल में उनकी तीव्रबुद्धि का उपयोग संपूर्ण परिवार के व्यापार को बढ़ाने में ही होता था। परंतु रायसाहब की छत्रछाया के उठते ही देवीलालजी और मेरे सगे ताऊ गयाप्रसादजी में बिल्कुल नहीं पटी। इसके परिणामस्वरूप जमींदार-वर्ग का विश्वास हमारे परिवार से उठ गया और वे अपनी जमाराशि खींचने लगे। बिजली कंपनी के निर्माण के समय 1928 में हमारे परिवार के 12 लाख रुपये उसमें लगे थे। 1941-42 में यह परस्थिति हो गयी कि जमींदारों की दो-तीन लाख से अधिक की कुल रकम हमारे जमा के खाते में नही रही और उसे भी चुकाने के लिए अंत में हमें गाँव बेचने पड़े। जो रुपये हमारे यहाँ जमा रहते थे, वे सब धीरे-धीरे जमा करनेवालों द्वारा खींच लिए जाने के कारण व्यापार भी ठप्प होने लगे। जमा रुपयों के खिँच जाने का कारण मुख्य रूप से देवीलालजी तथा मेरे ताऊ गयाप्रसादजी के बीच ऐक्य का न होना था। जब कोई जमींदार, जिसके रुपये जमा रहते, रुपये माँगने आता तो देवीलालजी, जो ऊपर बैठक में बैठते थे, उसे नीचे दुकान में बैठे गयाप्रसादजी

के पास भेज देते और गयाप्रसादजी उसे वापस देवीलालजी के पास भेज देते। इस प्रकार बारबार ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने के बाद और उन दोनों की आपस की कटूक्तियाँ सुनने के बाद ही उसे रुपयों का दर्शन होता था। ऐसी परिस्थिति में रुपये जमा करनेवाले का विश्वास उठ जाना स्वाभाविक ही था। मेरे गोद लेनेवाले पिता रायसाहब के जीवनकाल में क्यों 10-12 लाख रुपये बड़े-बड़े जमींदारों के हमारे यहाँ जमा रहते थे और उनका हम लोगों पर इतना विश्वास था उसका कारण नीचे लिखी इसी एक घटना से स्पष्ट हो जायगा—

एक बार एक जमींदार, जिसके लाख से ऊपर रुपये हमारे यहाँ बराबर जमा रहते थे, संध्या समय आया और बोला कि मुझे दस हजार रुपयों की आवश्यकता है। रायसाहब ने मुनीमजी से कहा कि बजार से रात भर के लिए दस हजार रुपये, एक रुपये सैकड़े के दैनिक ब्याज पर ले आइए। रायसाहब तकिये के नीचे दस हजार के नोट रखकर सोते थे। मुनीम इसको जानता था और रात भर के लिए सौ रुपयें ब्याज में भरना उसे भारी लग रहा था। उसने कहा, 'बाबू, क्यों न अपने तकिये के नीचे रखे हुए रुपयों से काम चला लें। एक रात की तो बात है। कल बैंक से रुपये निकाल लेंगे।' रायसाहब बोले, 'नहीं मुनीमजी, फिर मुझे रातभर नींद कैसे आयेगी ! आप बजार से ब्याज पर रुपये ले आइए।' मुनीमजी विवश होकर बाजार से रुपये ले आये जो उस जमींदार को दे दिये गये। उसके जाने के बाद रायसाहब ने मुनीम से कहा - 'मुनीमजी, मैं इतना नाजुकमिजाज नहीं हूँ कि इतने रुपये सिरहाने न रहें तो मुझे नींद ही नहीं आये। परंतु यदि तुम्हें बाजार में रुपये न मिलते तो इस व्यक्ति को, जिसके लाख से ऊपर रुपये अपने यहाँ जमा हैं, मुझे खाली हाथ लौटाना पड़ता जो हमारी साख के लिए अच्छा नहीं होता। सिरहाने रखे रुपये मैं ऐसे ही गाढ़े समय के लिए रखता हूँ।'

एक ओर रायसाहब का यह व्यवहार, दूसरी ओर मेरे दोनों ताऊओं का आचरण! जमींदार लोग अपने रुपये हमारे यहाँ रखने से क्यों न घबराते! परंतु जमींदारों द्वारा रुपये उठा लिये जाने का लाभ भी हमें हुआ। जमींदारी जब 1946 में समाप्त हुई तो हमारे पास कुल 2-3 गाँव बचे थे और जमींदारों की जमाराशि भी प्रायः चुका दी गयी थी। यदि जमा रकम गाँवों में फँसी रहती तो जमींदारी समाप्त होने पर और उसके स्थान पर मूल्यहीन वादे के कुछ कागजी सरकारी ऋणपत्रों (**Bonds**) को पाने पर, परिवार के सामने जमींदारों के रुपयों के चुकाने की भीषण समस्या आ खड़ी होती।

यह सुरक्षा देवीलालजी की दूरदर्शिता से संभव हुई थी, यह स्वीकार करने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं है यद्यपि उनसे संघर्ष करने में मेरा बहुत समय बीता है। प्रकृति ने मानव चरित्र में भले और बुरे का ऐसा धूपछाही रंग भरा है कि जिन्हें हम खलनायक समझते हैं उनमें भी अच्छेपन का और जिन्हें भला समझते हैं, उनमें भी दुर्गुण का कुछ न कुछ अंश दिखाई दे ही जाता है। महान साहित्यकार अपनी रचनाओं में जिन चरित्रों की सृष्टि करते हैं उनमें प्रकृति की इस विशिष्टता की झलक भी रहती है जो उनके चरित्रों को अधिक सजीवता प्रदान करती है। महाभारत और रामायण के चरित्र में हमें इसका पूरा परिचय मिलता है जिन्हें बाल्मीकि और व्यास ने इतना सजीव बना दिया है कि आज हजारों वर्ष के बाद भी वे हमारे मानस-चक्षुओं में घूमते रहते हैं। पौराणिक होते हुए भी वे ऐतिहासिक चरित्रों से अधिक सजीव दिखाई देते हैं।